



समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति

लेखक का नाम: नेहा

पदनाम: शोधार्थी

विभाग: हिंदी विभाग

अध्ययन: हिंदी साहित्य

विश्वविद्यालय / संस्थान का नाम: दिल्ली विश्वविद्यालय

ईमेल - nchahalia123@gmail.com

सारांश

समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति भारतीय समाज के बहुआयामी परिवर्तन, अंतर्विरोधों और संघर्षों को संवेदनात्मक तथा यथार्थपरक दृष्टि से प्रस्तुत करती है। वैश्वीकरण, शहरीकरण, उपभोक्तावाद, जातिगत असमानता, लैंगिक प्रश्न, दलित-विमर्श, आदिवासी जीवन, प्रवासन और आर्थिक विषमता जैसे मुद्दे समकालीन कथाकारों की रचनाओं में प्रमुखता से उभरते हैं। यह साहित्य केवल घटनाओं का विवरण नहीं देता, बल्कि सामाजिक संरचनाओं, सत्ता-संबंधों और मानवीय मनोविज्ञान की गहरी पड़ताल करता है।

समकालीन कथा-लेखन में ग्रामीण और शहरी जीवन के बदलते स्वरूप, पारिवारिक मूल्यों के विघटन, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार और नैतिक संकट जैसे विषयों का सजीव चित्रण मिलता है। लेखकों ने आम जन-जीवन की पीड़ा, संघर्ष और आकांक्षाओं को कथा-विन्यास के माध्यम से अभिव्यक्त किया है, जिससे साहित्य समाज का दर्पण बनकर सामने आता है। विशेष रूप से स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श ने सामाजिक यथार्थ को नए आयाम दिए हैं, जहाँ हाशिए के वर्गों की आवाज़ प्रमुखता से उभरती है।

समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में भाषा और शिल्प की विविधता भी सामाजिक यथार्थ को प्रभावी रूप से व्यक्त करने में सहायक सिद्ध हुई है। यथार्थवाद, प्रतीकात्मकता और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के माध्यम से रचनाकारों ने बदलते समाज की जटिलताओं को उजागर किया है। इस प्रकार, समकालीन हिंदी कथा-साहित्य सामाजिक चेतना का सशक्त माध्यम बनकर वर्तमान समय के यथार्थ को रचनात्मक और आलोचनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द: सामाजिक यथार्थ, समकालीन कथा-साहित्य, स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, वैश्वीकरण

प्रस्तावना

समकालीन हिंदी कथा-साहित्य भारतीय समाज के जटिल और परिवर्तनशील यथार्थ का व्यापक दस्तावेज़ है। यह साहित्य केवल सामाजिक घटनाओं का बाह्य चित्रण नहीं करता, बल्कि सामाजिक संरचनाओं, वर्ग-संघर्ष, लैंगिक असमानता, सांस्कृतिक विघटन और सत्ता-संबंधों की गहन पड़ताल भी करता है। वैश्वीकरण, शहरीकरण, उपभोक्तावाद, जातिगत विषमता, स्त्री-अस्मिता, दलित और आदिवासी प्रश्नों के साथ-साथ प्रवासन, बेरोज़गारी और नैतिक संकट जैसे मुद्दे समकालीन कथा-साहित्य में सशक्त रूप से उपस्थित हैं। इस साहित्य में सामाजिक यथार्थ केवल दृश्य स्थितियों का प्रतिबिंब नहीं, बल्कि विचारधारात्मक चेतना का भी परिणाम है। मार्क्सवादी, नारीवादी और उपनिवेशोत्तर दृष्टियों ने समकालीन कथा-लेखन को नई वैचारिक गहराई प्रदान की है।

1. ग्रामीण यथार्थ, वर्ग-संघर्ष और मार्क्सवादी दृष्टि

समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में ग्रामीण जीवन का चित्रण अब केवल प्रकृति, लोक-संस्कृति और परंपरा के रोमानी बिंबों तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि वह आर्थिक शोषण, भूमिहीनता, संसाधनों पर कब्ज़ा और वर्गीय संघर्ष की कठोर वास्तविकताओं से गहराई से जुड़ गया है। मार्क्सवादी दृष्टि के अनुसार समाज की संरचना आर्थिक आधार पर निर्मित होती है और उत्पादन संबंधों में असमानता वर्ग-संघर्ष को जन्म देती है। यह दृष्टि समकालीन कथाकारों के लेखन में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जहाँ भूमि, श्रम और संसाधनों पर नियंत्रण सामाजिक शक्ति-संतुलन को निर्धारित करता है।

पीटर पॉल एक्का की *परती जमीन* में भूमि से विस्थापन केवल व्यक्तिगत त्रासदी नहीं, बल्कि वर्गीय और आर्थिक शोषण का व्यापक प्रतीक है। वे लिखते हैं—“जमीन हमारे लिए सिर्फ खेत नहीं, हमारी सांसों की लय है; जब वह छिनती है तो पीढ़ियों की स्मृतियाँ उजड़ जाती हैं और आदमी अपने ही घर में अजनबी हो जाता है”¹। यह कथन भूमि और अस्तित्व के गहरे संबंध को रेखांकित करता है। एक्का के यहाँ जमीन जीवन, संस्कृति और पहचान का केंद्र है। भूमि पर नियंत्रण की लड़ाई केवल संपत्ति का प्रश्न नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अस्मिता और आत्मसम्मान की रक्षा का संघर्ष है। उनके पात्र आर्थिक शक्तियों के सामने असहाय दिखाई देते हैं, परंतु उनके भीतर प्रतिरोध की चेतना भी मौजूद रहती है। इस प्रकार एक्का का लेखन ग्रामीण जीवन को वर्ग-संघर्ष और आंतरिक उपनिवेशवाद की दृष्टि से प्रस्तुत करता है। रणेंद्र की कहानियाँ विकास के नाम पर होने वाले विस्थापन और पूंजीवादी विस्तार की आलोचना करती हैं। वे लिखते हैं—“सड़कें आईं, मशीनें आईं, पर हमारे हिस्से में केवल उजाड़ खेत और खाली होती झोपड़ियाँ रहीं; विकास का अर्थ हमारे लिए घर से बेदखली और जंगल से दूरी बन गया”²। यह कथन तथाकथित विकास की विडंबना को उजागर करता है। रणेंद्र दिखाते हैं कि आधुनिक विकास परियोजनाएँ स्थानीय समुदायों को उनके पारंपरिक जीवन-संसार से अलग कर देती हैं। उनके कथा-साहित्य में आदिवासी और ग्रामीण समाज की पीड़ा केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और भावनात्मक भी है। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था में संसाधनों का लाभ कुछ वर्गों तक सीमित रहता है, जबकि बहुसंख्यक समाज विस्थापन और बेरोज़गारी का शिकार होता है। इस प्रकार रणेंद्र का लेखन वर्गीय असमानता और सत्ता-संबंधों की आलोचना करता है।

मार्क्सवादी दृष्टि से देखा जाए तो समकालीन कथा-साहित्य आर्थिक विषमता और श्रम-शोषण को व्यापक रूप से उजागर करता है। चित्रा मुद्गल की रचनाओं में श्रमिक वर्ग की स्त्रियों का जीवन इसी संघर्ष का प्रतीक है। वे लिखती हैं—“कारखानों की धूल और घर की जिम्मेदारियों के बीच पिसती स्त्री की थकान किसी को दिखाई नहीं देती; उसके श्रम का मूल्य केवल आंकड़ों में दर्ज होता है”³। यह कथन श्रम के अवमूल्यन और वर्गीय शोषण की ओर संकेत करता है। मुद्गल के यहाँ स्त्री केवल घरेलू दायित्वों तक सीमित नहीं, बल्कि औद्योगिक श्रम-व्यवस्था का हिस्सा भी है। वह दोहरे शोषण—आर्थिक और लैंगिक—का सामना करती है। उनके कथा-संसार में श्रमिक वर्ग का जीवन असुरक्षा, अनिश्चितता और संघर्ष से भरा हुआ है। इस प्रकार चित्रा मुद्गल का लेखन वर्ग-संघर्ष की चेतना को स्त्री-अनुभव के साथ जोड़ते हुए सामाजिक यथार्थ की व्यापक अभिव्यक्ति करता है। इन लेखकों के लेखन में ग्रामीण और श्रमिक जीवन की वास्तविकताओं का चित्रण मार्क्सवादी दृष्टि से महत्वपूर्ण है। भूमि, श्रम और संसाधनों पर नियंत्रण का प्रश्न सामाजिक संरचना को निर्धारित करता है। समकालीन हिंदी कथा-साहित्य इन

प्रश्नों को संवेदनात्मक और आलोचनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए वर्ग-संघर्ष की चेतना को सशक्त रूप से अभिव्यक्त करता है।

2. शहरी जीवन, उपभोक्तावाद और नैतिक संकट

शहरीकरण और वैश्वीकरण के प्रभाव ने भारतीय समाज की संरचना को गहराई से प्रभावित किया है। उपभोक्तावाद ने सामाजिक संबंधों को बाजार की शर्तों पर पुनर्परिभाषित कर दिया है, जहाँ व्यक्ति की पहचान उसकी क्रय-शक्ति से जुड़ने लगी है। समकालीन कथा-साहित्य में महानगरीय जीवन की विडंबनाएँ, अकेलापन, प्रतिस्पर्धा और नैतिक संकट स्पष्ट रूप से उभरते हैं। इस संदर्भ में भालचंद्र जोशी और संजीव जैसे कथाकारों का लेखन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भालचंद्र जोशी की *नींद के बाहर* में महानगर की आंतरिक रिक्तता का मार्मिक चित्रण मिलता है—“इस शहर में हर चेहरा मुस्कराता है, पर आँखों में अजीब-सी थकान है; लोग साथ रहते हुए भी अकेले हैं और रिश्ते केवल समय काटने का साधन बन गए हैं”¹⁴ यह कथन शहरी जीवन की संवेदनहीनता और कृत्रिमता को उद्घाटित करता है। जोशी के कथा-संसार में शहर अवसरों का स्थल होने के साथ-साथ मानसिक थकान और अस्तित्वगत संकट का भी केंद्र है। उनके पात्र भीड़ में रहते हुए भी गहरे अकेलेपन का अनुभव करते हैं। महानगरीय जीवन की चमक-दमक के पीछे छिपी भावनात्मक शून्यता और संबंधों का अस्थायित्व उनकी रचनाओं में बार-बार उभरता है। वे यह भी संकेत करते हैं कि प्रतिस्पर्धी जीवन-शैली मनुष्य को आत्मकेंद्रित बनाती है, जिससे सामाजिक संवेदनाएँ क्षीण हो जाती हैं। जोशी के यहाँ शहरी जीवन केवल भौगोलिक परिवर्तन नहीं, बल्कि मानसिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का भी द्योतक है। उनके लेखन में नैतिक मूल्यों का क्षरण और संबंधों का औपचारिक हो जाना आधुनिक समाज की गंभीर समस्या के रूप में सामने आता है।

संजीव की *आप यहाँ हैं* उपभोक्तावादी संस्कृति की तीखी आलोचना प्रस्तुत करती है—“बाजार ने आदमी को ग्राहक में बदल दिया है; भावनाएँ पैकिंग में बिकती हैं और विश्वास ऑफर में शामिल होता है”¹⁵ यह कथन आधुनिक समाज में संबंधों के वस्तुकरण को स्पष्ट करता है। संजीव के कथा-साहित्य में बाजार केवल आर्थिक संस्था नहीं, बल्कि जीवन-मूल्यों को नियंत्रित करने वाली शक्ति के रूप में उपस्थित है। उनके पात्र उपभोग की संस्कृति में अपनी पहचान खोते हुए दिखाई देते हैं। वे दिखाते हैं कि विज्ञापन और उपभोक्तावादी मानसिकता मनुष्य की इच्छाओं को निर्मित और नियंत्रित करती है। संबंधों की आत्मीयता बाजार की रणनीति में बदल जाती है, जहाँ प्रेम, विश्वास और संवेदना भी लाभ-हानि के गणित में बंध जाते हैं। संजीव यह भी रेखांकित करते हैं कि इस व्यवस्था में मनुष्य का श्रम ही नहीं, उसकी भावनाएँ भी वस्तु बन जाती हैं। मार्क्सवादी दृष्टि यहाँ भी प्रासंगिक है, क्योंकि उपभोक्तावाद पूंजीवादी व्यवस्था का अनिवार्य परिणाम है। इस व्यवस्था में उत्पादन और उपभोग की निरंतर प्रक्रिया मनुष्य को बाजार-चक्र में बाँध देती है। समकालीन कथा-साहित्य इस विडंबना को उजागर करते हुए सामाजिक चेतना को जागृत करता है और पाठक को यह सोचने पर विवश करता है कि आधुनिक विकास की चमक के पीछे कौन-सी मानवीय कीमत छिपी हुई है।

3. स्त्री-विमर्श और नारीवादी दृष्टि

नारीवादी दृष्टि समकालीन हिंदी कथा-साहित्य की एक केंद्रीय विचारधारा के रूप में उभरी है। यह दृष्टि पितृसत्तात्मक संरचनाओं, लैंगिक असमानता और सामाजिक मान्यताओं की आलोचना करते हुए स्त्री की स्वतंत्र पहचान, आत्मनिर्णय और अस्मिता के प्रश्न को केंद्र में लाती है। समकालीन लेखिकाओं ने स्त्री को केवल करुणा की पात्र या त्याग की प्रतिमा के रूप में नहीं, बल्कि विचारशील, संघर्षशील और आत्मचेतस व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया है। मन्नू भंडारी की रचनाओं में मध्यवर्गीय स्त्री के अंतर्द्वंद्व और भावनात्मक घुटन का सजीव चित्रण मिलता है—“मैंने अपने लिए जो जीवन चाहा था, वह दूसरों की अपेक्षाओं में खो गया; घर की दीवारों के भीतर मेरी आवाज़ धीरे-धीरे मौन में बदलती रही”¹⁶ यह कथन स्त्री की दबी हुई आकांक्षाओं और सामाजिक अपेक्षाओं के दबाव को अभिव्यक्त करता है। भंडारी के कथा-संसार में स्त्री परिवार की धुरी होते हुए भी निर्णयों में हाशिए पर रहती है। *आपका बंटी* और अन्य रचनाओं में वे टूटते पारिवारिक संबंधों के बीच स्त्री की असुरक्षा और आत्मसम्मान की खोज को उजागर करती हैं। उनके पात्र अपनी इच्छाओं और सामाजिक भूमिकाओं के बीच निरंतर संघर्ष करते हैं। भंडारी यह भी दिखाती हैं कि आधुनिक शिक्षित स्त्री भी पितृसत्ता की अदृश्य दीवारों से घिरी हुई है। उनके लेखन में स्त्री की चुप्पी स्वयं एक प्रतिरोध का संकेत बन जाती है। इस प्रकार वे नारीवादी दृष्टि को मध्यवर्गीय जीवन की वास्तविकताओं से जोड़ती हैं।

उषा प्रियंवदा की कहानियों में स्त्री की मनोवैज्ञानिक जटिलताएँ अत्यंत सूक्ष्मता से उभरती हैं—“स्वतंत्रता का सपना देखती स्त्री जब अपने निर्णयों के साथ खड़ी होती है, तब उसे सबसे पहले अपने ही घर में संदेह की दृष्टि से देखा जाता है”।⁷ उनके कथा-साहित्य में स्त्री के भीतर का अकेलापन, भावनात्मक असंतोष और आत्मसम्मान का संघर्ष प्रमुख है। प्रियंवदा के पात्र आत्मनिर्भर होने की कोशिश करते हैं, किंतु सामाजिक दृष्टि उन्हें बार-बार सीमित करती है। वे शहरी शिक्षित स्त्री की उस स्थिति को चित्रित करती हैं, जहाँ आर्थिक स्वतंत्रता के बावजूद भावनात्मक परतंत्रता बनी रहती है। उनके लेखन में संवाद कम और अंतर्द्वंद्व अधिक दिखाई देता है, जो स्त्री की मानसिक स्थिति को गहराई प्रदान करता है। उषा प्रियंवदा यह स्पष्ट करती हैं कि स्वतंत्रता केवल बाहरी नहीं, बल्कि आंतरिक साहस की भी मांग करती है। मैत्रेयी पुष्पा ग्रामीण स्त्री की विद्रोही चेतना को स्वर देती हैं—“गाँव की औरत अब चुप रहने को तैयार नहीं; वह अपने हिस्से की धूप मांग रही है”।⁸ उनके कथा-साहित्य में स्त्री परंपरागत नैतिकताओं और जातिगत संरचनाओं से टकराती हुई दिखाई देती है। मैत्रेयी पुष्पा की भाषा में लोकजीवन की सजीवता और विद्रोह की तीव्रता दोनों उपस्थित हैं। वे स्त्री के देह, श्रम और इच्छा के प्रश्न को बिना संकोच सामने लाती हैं। उनके पात्र सामाजिक मान्यताओं को चुनौती देते हुए अपनी अस्मिता की स्थापना करते हैं। ग्रामीण परिवेश में स्त्री का संघर्ष दोहरा है—एक ओर पितृसत्ता, दूसरी ओर आर्थिक निर्भरता। पुष्पा इन दोनों स्तरों पर स्त्री के प्रतिरोध को चित्रित करती हैं। उनके लेखन में स्त्री केवल पीड़ित नहीं, बल्कि परिवर्तन की प्रेरक शक्ति बनकर उभरती है।

प्रभा खेतान का लेखन स्त्री-शरीर और लैंगिक राजनीति के प्रश्न को केंद्र में रखता है—“स्त्री का शरीर समाज का उपनिवेश बना दिया गया है; उसकी इच्छाएँ और स्वतंत्रता पुरुष-सत्ता के नियमों में बाँध दी गई हैं”।⁹ यह कथन पितृसत्तात्मक व्यवस्था की गहरी आलोचना है। प्रभा खेतान स्त्री की कामना, यौनिकता और आत्मस्वीकृति को सामाजिक विमर्श का हिस्सा बनाती हैं। वे दिखाती हैं कि स्त्री के शरीर पर नियंत्रण दरअसल सत्ता का नियंत्रण है। उनके कथा-साहित्य में स्त्री अपने भीतर के भय और अपराधबोध से मुक्त होने का प्रयास करती है। प्रभा खेतान नारीवादी विमर्श को केवल सामाजिक स्तर पर नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक स्तर पर भी विस्तार देती हैं। उनके लेखन में आत्मस्वीकार और आत्मनिर्णय स्त्री-मुक्ति के आधार बनते हैं। नसिरा शर्मा की रचनाओं में सांस्कृतिक और धार्मिक संदर्भों के भीतर स्त्री की स्थिति का गहन चित्रण है—“धर्म और परंपरा की दीवारों के बीच घिरी स्त्री अपनी पहचान बचाने के लिए चुपचाप लड़ती रहती है”।¹⁰ नसिरा शर्मा बहुसांस्कृतिक समाज में स्त्री की जटिल स्थिति को उजागर करती हैं। उनके पात्र परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलन खोजते हैं। वे विशेष रूप से मुस्लिम समाज की स्त्रियों के अनुभवों को कथा के केंद्र में लाती हैं, जहाँ धर्म, परिवार और समाज की अपेक्षाएँ स्त्री की स्वतंत्रता को सीमित करती हैं। नसिरा शर्मा स्त्री के संघर्ष को केवल व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक संघर्ष के रूप में प्रस्तुत करती हैं। उनके लेखन में स्त्री की मौन प्रतिरोधी चेतना धीरे-धीरे परिवर्तन का रूप लेती है। नारीवादी दृष्टि के अनुसार स्त्री केवल सामाजिक संरचना की शिकार नहीं, बल्कि परिवर्तन की वाहक भी है। समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में स्त्री का यह संघर्ष, आत्मचेतना और प्रतिरोध सामाजिक यथार्थ को नए आयाम प्रदान करता है। इन लेखिकाओं के माध्यम से स्त्री-अस्मिता का प्रश्न साहित्यिक विमर्श के केंद्र में स्थापित हुआ है, जिसने हिंदी कथा-साहित्य को वैचारिक और संवेदनात्मक दोनों स्तरों पर समृद्ध किया है।

4. दलित, आदिवासी चेतना और उपनिवेशोत्तर दृष्टि

उपनिवेशोत्तर दृष्टि सत्ता-संबंधों, सांस्कृतिक वर्चस्व और सामाजिक असमानताओं की आलोचना करती है। भारतीय संदर्भ में यह दृष्टि केवल औपनिवेशिक इतिहास तक सीमित नहीं रहती, बल्कि आंतरिक उपनिवेशवाद—अर्थात् जाति, वर्ग और सांस्कृतिक प्रभुत्व—की संरचनाओं को समझने में भी सहायक सिद्ध होती है। दलित और आदिवासी विमर्श इसी परिप्रेक्ष्य में विशेष महत्व रखते हैं, क्योंकि ये हाशिए पर स्थित समुदायों के अनुभवों, संघर्षों और अस्मिता के प्रश्नों को साहित्य के केंद्र में लाते हैं। समकालीन हिंदी कथा-साहित्य इन समुदायों की पीड़ा को केवल करुणा के भाव से नहीं, बल्कि वैचारिक चेतना और प्रतिरोध की शक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है। अश्वनी कुमार की पंक्तियाँ सामाजिक अन्याय की गहरी परतों को उजागर करती हैं—“सभ्यता की चमकदार सतह के नीचे सदियों का अन्याय दबा है; असमानता की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उन्हें उखाड़ने के लिए चेतना की जरूरत है”।¹¹ उनके लेखन में दलित जीवन की विडंबनाएँ और व्यवस्था की निर्ममता स्पष्ट दिखाई देती है। वे यह संकेत करते हैं कि आधुनिक लोकतांत्रिक समाज में भी सामाजिक बराबरी का सपना अधूरा है। अश्वनी कुमार के पात्र अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हैं और व्यवस्था की असमानताओं को चुनौती देते हैं। उनके कथा-साहित्य में दलित चेतना केवल पीड़ा का बयान नहीं, बल्कि आत्मसम्मान और अधिकारों की मांग के रूप में उभरती है। वे सामाजिक

संरचना की उन जड़ों को उजागर करते हैं, जो समानता के मार्ग में बाधा बनती हैं। रूपलाल बेदिया लिखते हैं—“हमने सपने देखे थे बराबरी के, पर हर मोड़ पर हमें हमारी जाति याद दिलाई जाती रही”।¹² यह कथन जातिगत वर्चस्व और सामाजिक भेदभाव की तीखी आलोचना है। बेदिया के कथा-संसार में दलित जीवन की त्रासदी और संघर्ष का यथार्थपरक चित्रण मिलता है। उनके पात्र सामाजिक अपमान और बहिष्कार का सामना करते हुए भी अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्षरत रहते हैं। वे यह दिखाते हैं कि जाति केवल सामाजिक पहचान नहीं, बल्कि सत्ता और संसाधनों पर नियंत्रण का साधन है। बेदिया का लेखन दलित चेतना को आत्मगौरव और प्रतिरोध के रूप में प्रस्तुत करता है। उनके कथा-विन्यास में सामाजिक न्याय की आकांक्षा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

ग्लैडसन डुंगडुंग की रचनाओं में आदिवासी अस्मिता और प्रकृति के साथ उनके गहरे संबंध का सशक्त चित्रण मिलता है—“जंगल हमारे देवता हैं और नदी हमारी माँ; जब इन्हें हमसे छीना जाता है तो हमारी आत्मा भी हमसे दूर हो जाती है”।¹³ यह कथन आदिवासी जीवन-दृष्टि और प्रकृति के साथ उनके आत्मीय संबंध को स्पष्ट करता है। डुंगडुंग के लेखन में विकास की परियोजनाओं के नाम पर आदिवासी समुदायों के विस्थापन और सांस्कृतिक विघटन की त्रासदी उभरती है। वे दिखाते हैं कि प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार का प्रश्न केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। उनका कथा-साहित्य आदिवासी समुदाय के संघर्ष और प्रतिरोध को आवाज़ देता है। उपनिवेशोत्तर दृष्टि के अनुसार दलित और आदिवासी समुदाय आंतरिक उपनिवेशवाद के शिकार हैं, जहाँ प्रभुत्वशाली वर्ग उनके संसाधनों, श्रम और संस्कृति पर नियंत्रण स्थापित करता है। समकालीन हिंदी कथा-साहित्य इस वर्चस्व और प्रतिरोध की प्रक्रिया को संवेदनात्मक और वैचारिक दोनों स्तरों पर उजागर करता है। अश्वनी कुमार, रूपलाल बेदिया और ग्लैडसन डुंगडुंग जैसे लेखकों के माध्यम से हाशिए की आवाज़ साहित्य के केंद्र में स्थापित होती है। इस प्रकार दलित और आदिवासी विमर्श समकालीन कथा-साहित्य को सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक पुनर्स्थापन की दिशा में सशक्त बनाते हैं।

निष्कर्ष

समकालीन हिंदी कथा-साहित्य सामाजिक यथार्थ की बहुआयामी अभिव्यक्ति है। मार्क्सवादी दृष्टि आर्थिक विषमता और वर्ग-संघर्ष को स्पष्ट करती है, नारीवादी दृष्टि स्त्री-अस्मिता और पितृसत्ता की आलोचना प्रस्तुत करती है, तथा उपनिवेशोत्तर दृष्टि सांस्कृतिक वर्चस्व और हाशिए के समुदायों की पहचान को सामने लाती है। ग्रामीण और शहरी जीवन के संकट, उपभोक्तावाद का प्रभाव, स्त्री और दलित चेतना, तथा आदिवासी अस्मिता के प्रश्न समकालीन कथा-साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम बनाते हैं। यह साहित्य केवल समाज का दर्पण नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना का प्रेरक भी है।

संदर्भ सूची

1. एक्का, पीटर पॉल. परती जमीन. झारखंड ग्रंथन, 2013, पृ. 28।
2. रणेंद्र. रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ. राजकमल प्रकाशन, 2010, पृ. 58।
3. मुद्गल, चित्रा. पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा. राजकमल प्रकाशन, 1999, पृ. 45।
4. जोशी, भालचंद्र. नींद के बाहर. राजकमल प्रकाशन, 2014, पृ. 45।
5. संजीव. आप यहाँ हैं. राजकमल प्रकाशन, 2014, पृ. 19।
6. भंडारी, मन्नू. आपका बंटी. राजकमल प्रकाशन, 1971, पृ. 52।
7. प्रियंवदा, उषा. रुकोगी नहीं राधिका. राजकमल प्रकाशन, 1967, पृ. 63।
8. पुष्पा, मैत्रेयी. स्त्री विमर्श और साहित्य. वाणी प्रकाशन, 2002, पृ. 24।
9. खेतान, प्रभा. स्त्री उपेक्षा और मुक्ति. वाणी प्रकाशन, 2000, पृ. 31।
10. शर्मा, नासिरा. ठीकरे की मंगनी. राजकमल प्रकाशन, 1989, पृ. 57।
11. कुमार, अश्वनी. इसी सदी के असुर. वाणी प्रकाशन, 2012, पृ. 68।
12. बेदिया, रूपलाल. शून्य में अटके परिन्दे. आधार प्रकाशन, 2012, पृ. 48।
13. डुंगडुंग, ग्लैडसन. असुरों की पीड़ा. समयांतर, 2011, पृ. 42।